काश्मीर शैव दर्शन : आधारभूत अवधारणा और प्रतिमानक के रूप में प्रत्यभिज्ञा की भूमिका

(गतांक से आगे)

नवजीवन रस्तोगी

हमें लगता है कि प्रत्यभिज्ञा आचार्य स्मृति की आन्तरिक संरचना इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि वह स्वयं गहरे स्तर पर प्रत्यभिज्ञा के रूप में उन्मिषित होती है। प्रत्यभिज्ञा की अनुसंधानात्मक ज्ञान के रूप में अवधारणा की गयी है। ध्यातव्य है कि स्मृति को इस अनुसंधान का प्राण कहा गया है। स्मृति तभी उपपन्न हो पाती है जब उसका विषय पूर्वानुभव का विषय हो–इस एकता के भान वाली स्थिति का नाम अनुसंधान है।[179] हमारी सारी लोकयात्रा उन ज्ञानों के आश्रित है जो इस स्मरणानुसंधान से जन्म लेते हैं।[180] अभिनव का मानना है कि **'अहं पश्यामि'** (मैं देख रहा हूँ) रूप जो हमारा प्रथम प्रत्यक्ष है वह भी पूर्वापरानुसंधानरूप स्मरण से अनुप्राणित हुए बिना नहीं हो सकता,[181] क्योंकि वहाँ पहले 'अहं' का तब 'पश्यामि', जिसका भी विषय 'अहं' है, का परामर्श होता है।[182] क्योंकि प्रमाता में विश्रान्त हुए बिना तो प्रत्यक्ष भी सम्भव नहीं होगा।

इस प्रकार सारे अनुसंधानों का प्राण होते हुए भी बिना विषय के स्मरणानुसंधान सम्भव नहीं होता।[183] स्मृति में यह विषय पूर्वानुभव के भासन द्वारा ही सम्भव है। पूर्वानुभव में जो विषय है उसका रूप है **'बहिरिव भासते** (बाहर जैसा भासता है)।' पर वह तो पूर्व में था। इस समय स्मृति में उसका विमर्शन मात्र है। अत: स्मृति की परिभाषा है : विमर्श द्वारा गृहीत पूर्वदृष्टता, अर्थात् 'यह देखा जा चुका है इस भाव का,' जब वर्तमानकाल में फिर से विमर्शन होता है तब उसे स: (वह) कहते हैं।[184] यह व्याख्या बताती है कि अनुभव और विमर्शन के मध्य विरोध का समन्वय होता है, उस अहं के द्वारा जो विभिन्न कालों में घटित अनुभवों के मध्य ऐक्यानुसंधान करने में समर्थ है। प्रकाश-विमर्श समीकरण का आश्रय लेते हुए अभिनव इसे और भी समझाते हैं। विषयांश में प्रकाश का सम्बन्ध तो 'पूर्वकाल' से है। परन्तु विमर्श द्वारा गृहीत प्रकाश का सम्बन्ध हमारी चेतना के अंशभूत स्मरण से है जो काल से परिच्छिन्न नहीं है।[185] इस प्रकार स्मरणगत विमर्श का अनुभवगत विमर्श से योग होने में न कोई बाधा है और न इसके माध्यम से अर्थ या विषय के प्रकाश से योग होने में। इस प्रकार प्रकाश और विमर्श का यह एकीकरण स्मृति की अनुसन्धानरूपता का आन्तरिक स्रोत बन जाता है। स्मृति में वस्तुत: क्या होता है इसका अभिनवगुप्त सूक्ष्म परीक्षण करते हैं। पूर्वानुभव के विषय का ग्रहीता प्रमाता परवर्ती काल में उस विषय का 'स:' रूप से विमर्शन करता है, तब हम कहते हैं कि प्रमाता 'स्मरण करता है।'?[186] प्रश्न है कि यहाँ 'स:' विमर्श का रूप क्या है। न तो वह अहं रूप में अभेद परामर्श है और न इदं रूप में भेद परामर्श। अनुभवगत देश और काल से विशिष्ट परिमित प्रमाता की चेतना के साथ वह पृथक् विषय के रूप में अहंता में भी लीन नहीं होता, ऐसा होता तो तत्तद् विषय

का स्मरण न होता। अत: जब स्मृति नहीं होती उस समय वह विषय एक प्रकार से अज्ञान या विस्मृति के अन्धकार से आच्छादित होकर हृदय में संस्काररूप से बना रहता है। स्मृति, संस्कार रूप से स्थित इस विषय पर से अन्धकाररूप आवरण को केवल हटा देती है।[187] फलत: वह पूर्वकालीन विषय और उस काल का अनुभव दोनों स्मृति में भासित होते हैं पर साथ ही वर्तमान स्मरणकालिक परामर्श की प्रधानता होने के कारण वह अब 'इदं' रूप की जगह 'स:' या 'तद्' रूप से परामृष्ट होता है। पहले और पीछे इन दोनों परामर्शों की सहचेतना 'स:' परामर्श में प्रतिफलित होती है।[188] इसी कारण से यहाँ स्मरण को अनुसंधान भी कहते हैं। यहाँ महत्त्वपूर्ण बात यह देखने की है कि मलापसारण की जो प्रक्रिया हम ज्ञान-मीमांसा के क्षेत्र में प्रमाण के व्यापार के सन्दर्भ में या पारतात्त्विक क्षेत्र में मोक्ष के सन्दर्भ में देखते हैं वही प्रक्रिया शैव दार्शनिक स्मृति के सन्दर्भ में भी अपनाते हैं। मोह को दूर करने के कारण यह प्रमाता की स्मृतिशक्ति कहलाती है।[189] दूसरी बात है कि **'स्मरति'** या **'स घट:'** का अर्थ है–'मैंने इस घड़े का अनुभव किया।' इससे हम अनुसंधाता और अनुसंधान की एकता पर पहुँचते हैं। क्योंकि वेदिता या स्मर्ता इस ऐक्य से अतिरिक्त नहीं है। स्मरण से स्मर्ता का अवभासन एक गहरी प्रत्यभिज्ञा है जिसे अभिनवगुप्त 'विस्मयगर्भा' प्रत्यभिज्ञा कहते हैं।[190] इस प्रकार स्मृति में द्विचरणात्मिका प्रत्यभिज्ञा है – एक, तात्कालिक बाह्य पदार्थ का प्रकाश और इदंकालिक अंतर्मुख विमर्श[191] इनकी प्रत्यभिज्ञा, और दूसरे 'मैंने अनुभव किया' इस रूप में अनुसंधान द्वारा अनुसंधाता की प्रत्यभिज्ञा।

इससे हम मूल प्रश्न पर आ जाएँ। हमने देखा कि विमर्श में काल नहीं होता, कालस्पर्श होता है विषय अर्थात् प्रकाश में। स्मृति आन्तरिक संरचना में विमर्श है जो मल का अपसारण करती हुई कालानवच्छिन्न परामर्श करती है। स्मृति और अनुभव प्रमाणावस्था की ज्ञानप्रकारताएँ हैं, अनुत्तर में तो उनकी शक्तिरूपता है। चरम प्रत्यभिज्ञा में भी स्मृति और अनुभव का समीकरण प्रकाश और विमर्श के समीकरण के रूप से ही अपनी प्रमाणातीत भूमिका में अभिव्यक्त होता है।[192] प्रमाणातीत स्मृति का सम्बन्ध प्रमाणातीत विस्मृति से करना होगा।[193] यह प्रमाणोत्तीर्ण आद्य विस्मृति परमशिव की तिरोधान शक्ति है। अत: अपना संकोच विस्मृति है और विकास प्रत्यभिज्ञान। अभेद में भेदन आद्य विकल्पन या तिरोधान है और भेद में अभेदन परम प्रत्यभिज्ञा या अनुग्रह। यही कारण है कि उत्पल भावित चित्त वालों के स्मरण को दृष्ट (दृश्यमान नहीं) अर्थ का प्रत्यक्षीकरण मानते हैं।[194] अभिनव बताते हैं कि आगम परम्परा में स्मृति ही मंत्र है और वही ध्यान है।[195] स्मृति की यह आध्यात्मिक संरचना ही प्रत्यभिज्ञा में उसके महत्त्व का कारण है।

फल, उपेय, पर्यन्त मूल्य

इस सारे व्यापार का फल या साध्य भी प्रत्यभिज्ञा है, यह प्रत्यभिज्ञा का चतुर्थ आयाम है। आदि श्लोक की व्याख्या में अभिनवगुप्त ने पार्यन्तिक प्रयोजन के द्वारा इसी का निर्देश किया है।[196] सम्प्रदाय की पारिभाषिक पदावली में तीनों प्रयोजनों को क्रमश: अग्र, मध्य और मूल कहा जा सकता है। इस प्रकार पार्यन्तिक प्रयोजन, मूल प्रयोजन, फल, उपेय या

चरम मूल्य सब एक ही अर्थ ध्वनित करते हैं। यह पर्यन्त मूल्य है समस्तसम्पत् रूप माहेश्वर्य लाभ या पारमार्थिक प्रमातृता का प्रकाशन, अर्थात् स्वरूप-प्रत्यभिज्ञान। भारतीय दर्शन के व्यापकतर सन्दर्भ में हम इसे मुक्ति शब्द से व्यक्त करते हैं।[197]

अभिनव इसे एक दृष्टान्त से समझाते हैं। जब वैद्य रोगी से कहता है 'आरोग्य की कामना वाले लोग हरीतकी (हड़) का सेवन करें' **(आरोग्यकामा: शिवाँ सेवन्ताम्)**, तो विश्लेषण करने पर इस वाक्य की चार कक्ष्याएँ स्पष्ट प्रकट होती हैं। पहली कक्ष्या है, वाक्य-प्रयोग की। दूसरी कक्ष्या है, उत्तम या प्रथम पुरुष में अर्थबोध की–'मुझे हरड़ का सेवन करना चाहिए।' तीसरी कक्ष्या है व्यापार, प्रयत्न या क्रिया की–रोगी द्वारा हरड़ का सेवन और चौथी कक्ष्या है, आरोग्य या आरोग्य-लाभ की।[198] यहाँ महत्त्वपूर्ण बात यह है कि चौथी कक्ष्या–आरोग्यलाभ–तो आगे भविष्य में घटित होगी, फिर भी चौथी कक्ष्या तीसरी कक्ष्या के अन्दर अर्थात् सेवनकाल में रोगी की चेतना में समायी रहती है। उसी से वह अर्थ सम्पूर्ण होता है अन्यथा रोगी की उस उपचार के प्रति रुचि नहीं रहेगी, फलत: वह उपचार का अधिकारी भी नहीं रहेगा। 'समस्तसम्पत्' यहाँ आरोग्य का स्थानी है और अन्वर्थतया महान् ऐश्वर्य (माहेश्वर्य) या परम ऐश्वर्य का वाचक है। पारमैश्वर्य है अपने को ईश्वर जानते हुए और ज्ञान, क्रिया को अपने से अभिन्नतया अपने में ही उपलब्ध करते हुए कर्त्ता और ज्ञाता होना। अभिनव के लिए यह पूरे प्रत्यभिज्ञा शास्त्र का फलित है[199] और **'कर्तरि ज्ञातरि स्वात्मन्यादिसिद्धे महेश्वरे** (ई.प्र.का. 1.1.2) से प्रारम्भ होने वाली आत्माविष्करण-यात्रा का पर्यन्त बिन्दु भी।' 'पार्यन्तिक' शब्द द्वारा भङ्गिमान्तर से शैव दार्शनिक द्वारा यह सिद्ध करने का ठोस दार्शनिक प्रयत्न है कि सारी प्रत्यभिज्ञाएँ शिव के 'आत्मप्रत्यभिज्ञान' के रूप में निहित हैं। चरम प्रत्यभिज्ञा को इसीलिए 'महाविमर्श' कहते हैं।[200] इस अर्थ में प्रत्यवमर्श की 'प्रत्यभिज्ञा' से पर्यायता है : प्रति+अव+मृश् का अर्थ है–'उलटा अपना विमर्श करना।'[201]

प्रयोजनों के तारतम्य-निर्देश से और विशेषत: पार्यन्तिक प्रयोजन की चर्चा से कुछ आधुनिक विद्वान् प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय द्वारा पल्लवित आत्म-प्रत्यभिज्ञान के आविष्करण को प्रयोजनमूलक मानने के पक्ष में है।[202] दृश्यमान् जगत् का अहंविमर्श की ओर लौटना अन्तत: उसके वास्तविक स्वरूप का आत्मप्रत्यभिज्ञान है। इस दृष्टि से सृष्टि का प्रत्यावर्तन और प्रयोजन एक ही बात है। परन्तु मुझे लगता है कि इस तरह की धारणा अतिसरलीकरण होगी। व्यवहार की दृष्टि से इस प्रक्रिया को प्रयोजनमूलक हम भले ही कह लें पर तत्त्वत: यह आत्मा के कर्तृत्व में अंतर्भूत है।[202] सृष्टि में स्वात्मरूप शिव का जगत् के रूप में अवरोहण अपने कर्तृत्व का प्रत्यभिज्ञान है और उपसंहार में आत्मा का शिव की ओर प्रत्यावर्तन आत्मा के ज्ञातृत्व का प्रत्यभिज्ञान है। लेकिन सृष्टि-प्रक्रिया 'के लिए' आत्मप्रत्यभिज्ञान और आत्मप्रत्यभिज्ञान 'के लिए' संहार-प्रक्रिया नहीं है, आत्मप्रत्यभिज्ञान का अर्थ ही है चेतना की अविच्छिन्न धारा, जिसमें हमारी जीवन-यात्रा और सामान्य अनुभव, आद्य विश्रान्ति और पार्यन्तिक विश्रान्ति (जो अहंविमर्श होने के नाते एकरूप हैं) के मध्य बीच का पड़ाव मात्र है।[204]

प्रत्यभिज्ञा को अभिनवगुप्त महाफल कहते हैं। महाफल कहने का विशेष प्रयोजन है कि फल के प्ररोह की दिशा उभयमुखी है। अर्थात्, मनुष्य की ईश्वरविषयक प्रत्यभिज्ञा और ईश्वर की मनुष्यविषयक प्रत्यभिज्ञा।[205] ईश्वर और मनुष्य के बीच जो प्रत्यभिज्ञामूलक सम्बन्ध है, अर्थात् स्वामी जब अपने को पहचानता है तब सम्बन्ध है प्रत्यभिज्ञातृ-प्रत्यभिज्ञेयता रूप। और जब मनुष्य से कहा जाता है कि तुम स्वामी को पहचानो तो वह प्रत्यभिज्ञापयितृ-प्रत्यभिज्ञाप्यतारूप सम्बन्ध है।[206] अर्थात् आत्मप्रत्यभिज्ञानपूर्वक जनप्रत्यभिज्ञान सम्पूर्ण प्रत्यभिज्ञान बनता है। पूर्ण प्रत्यभिज्ञान समस्त सम्पत्तियों की प्राप्ति का हेतु होने के नाते महाफल है।[207] आदि श्लोक में उपात्त दास्य और समग्र ऐश्वर्य की प्राप्ति दोनों को उत्पल एक ही मानते हैं, यह अभिनवगुप्त के व्याख्यानों से पता चलता है। दास वह है जिसे स्वामी अपना सब कुछ दे देते हैं। अत: परमेश्वराकार स्वातन्त्र्य के प्रति यह पात्रता-आसादन है।[208] ईश्वर और जन की यह पारस्परिकता गुरु और शिष्य, शास्त्रकार और पाठक, कारिकाकार और टीकाकार सबमें संक्रान्त होती है। इसीलिए अभिनव आगमों में प्रतिपादित महाव्याप्तिभावना का तात्पर्य इसे ही मानते हैं।[209] दास्य शब्द के प्रयोग द्वारा उत्पल प्रत्यभिज्ञा के अर्थ को एक नया विस्तार देते हैं। दास्य भक्ति को प्रत्यभिज्ञानमयी मानकर वह भावगोचरता और तर्कगोचरता के मध्य पड़े तथाकथित पर्दे को हटा देते हैं और इस बात की उद्घोषणा करते हैं कि भाव भी ज्ञान दे सकता है। समग्रता की उपलब्धि में जो आस्वाद है वही समावेशमयी भक्ति है और वही मोक्ष।[210] कविराज जी ने प्रत्यभिज्ञा के इस पक्ष पर गंभीर चर्चा की है, हमने इस पर अन्यत्र विचार किया है।[211] वस्तुत: **कारिका, वृत्ति** और **विवृति** के महान दार्शनिक और शिवस्तोत्रावली के भावविह्वल भक्त उत्पल ने अपने जीवन से इसे प्रमाणित किया था।

प्रत्यभिज्ञा को दास्य और दास्यभक्ति को समावेश कहकर शैव दार्शनिक तान्त्रिक परम्परा के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रत्यय समावेश को प्रत्यभिज्ञा विचार-प्रणाली का अंग बना देते हैं। काश्मीर के कापालिकों से[212] यह प्रत्यय **मालिनीविजयोत्तरतंत्र** के माध्यम से आता है।[213] समावेश की धारणा को समझाते हुए उत्पल कहते हैं कि सांसारिक प्राणी : पशु प्रमाता :, के क्रमश: देह, बुद्धि, प्राण और शून्य अंशों से तादात्म्य होने के कारण उसके मूलभूत व्यक्तित्व के दोनों पक्ष–स्वातन्त्र्य और बोध, क्रिया और ज्ञान – संकुचित होने के कारण देह आदि की तुलना में गौण होकर पृष्ठभूमि में चले जाते हैं। यही वस्तुत: दो प्रकार का आणव मल हमारे व्यक्तित्व का आद्य संकुचन है।[214] गुरु के उद्बोधन आदि से इस सम्बन्ध का विपर्ययन अर्थात् शून्य, प्राण, बुद्धि और देह का मौलिक ज्ञानक्रियात्मक स्वभाव के सामने गुणीभूत हो जाना समावेश कहलाता है।[215] समावेश है कर्तृता और बोध रूप संवित् में डूब जाना। इस प्रकार यह ज्ञान की प्रकृति को परिभाषित करता है। समावेश में **विश** का साधारण और प्रेरणार्थक दोनों अर्थों में ग्रहण[216] समावेश की दोहरी प्रवृत्ति का परिचायक है–पूरी तरह से प्रवेश करना और पूरी तरह से घेर लिया जाना, आविष्ट कर लिया जाना। आवेशन व्यक्तित्व के आमूल चूल आन्तरिक परिवेष्टन की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया

का द्विमुखत्व ठीक प्रत्यभिज्ञा जैसा है। प्रत्यभिज्ञा और समावेश की पर्यायता में उत्पल का अभिनिवेश इसी से सिद्ध होता है कि प्रारम्भ में की गयी प्रत्यभिज्ञा के उपपादन की प्रतिज्ञा की सिद्धि वे अपनी शिवतामयी विश्वकर्तृता के आवेश में देखते हैं।[217] यहाँ यह प्रवेश जिज्ञासु या मनुष्य का शिव की सत्ता में है। समावेश की धारणा उत्पल अपने गुरु सोमानन्द से लेते हैं। शिवदृष्टि के मंगलाचरण में ग्रन्थकार उस शिव को प्रणाम करते हैं जो प्रमाता या पाठक या ग्रन्थकार के अस्तित्व में आविष्ट है।[218] यह प्रक्रिया शिव की ओर से मनुष्य की शिवतामयी सत्ता में प्रवेश की है। सोमानन्द वस्तुत: शिवरूपता की पहचान उसकी अपनी शक्तियों के द्वारा आवेश में करते हैं। सारे ज्ञानाकारों, सारे विषयाकारों में शक्ति के आवेशन के द्वारा ही उनकी शिवरूपता का अभिज्ञान सम्भव है।[219] इस आवेशन को उत्पल चिद्, आनन्द इत्यादि पंचशक्तियों की समरसता मानते है।[220] समावेश की मात्रा से सिद्धि का सम आनुपातिक सम्बन्ध है – जिस सीमा तक भिन्न प्रमेयों में शिवत्व का समावेश पाते हैं उसी सीमा तक सिद्धि सम्भव है। अर्थात् समावेश का निरन्तर दृढ़ीकरण होते रहना चाहिए। **विमर्शिनी** और **विवृतिविमर्शिनी** में अभिनवगुप्त समावेश के आधार पर दो प्रकार की जीवन्मुक्ति का निरूपण करते हैं।[221] जीवन्मुक्ति इसलिए कि देहपात के बाद तो केवल एकघन शिवता ही बचती है। वहाँ कौन किसमें समावेश करेगा?[222] पहले प्रकार में समावेश का अर्थ है 'सत्य के स्वरूप में पूरा और चारों ओर से ज्ञानात्मक प्रवेश', उस ज्ञान को पाकर व्यक्ति ज्ञानी और इसके अभ्यास से योगी हो जाता है।[223] बुद्धि, देह, प्राण आदि में व्यापकत्व, नित्यत्व आदि, अनन्त संविद्धर्मों के आसादन से योगी को तुर्यातीत दशा की प्राप्ति होती है। इस परामर्श के बल से शून्यादि रूप कल्पित व्यक्तित्व से निकलकर अहंभाव ऊपर आकर उतराने सा लगता है, 'सा' इसलिए क्योंकि शून्य आदि का संस्कार बना रहता है। इस स्थिति की तुलना अभिनवगुप्त अव्यतिरेक तुर्यातीत से करते हैं।[224] उसके अनुसार उत्पल इसको 'विशेषदर्शनों' अर्थात् शाक्ताद्वैतवादी दर्शनों की विशेषता मानते हैं जो आत्मा का लक्षण शक्ति को स्वीकार करते हैं। फलत: 'सामान्यदर्शन' वालों की स्थिति भिन्न है जो शुद्ध चैतन्य रूप सर्वोत्तीर्ण, मात्र प्रमाता को ही स्वीकार करते हैं।[225] स्वाभाविक है कि सामान्यदर्शनों का तुर्यातीत 'व्यतिरेकतुर्यातीत' कहलाएगा। दूसरे प्रकार के समावेश में शक्तिरूप संविद्धर्म धीरे-धीरे अभ्यास के द्वारा संकुचित व्यक्तित्व के निर्मायक तत्त्वों में पूरी तरह आविष्ट होते हुए तमाम सिद्धियों को प्राप्त करते हैं, जैसे तांबे के बर्तन में रखा गया पारा धीरे-धीरे तांबे के बर्तन को सोने में बदलने लगता है। इसे तुर्या स्थिति कहते हैं।[226] बिना अभ्यास के भी तत्क्षण आवेश में आनन्द, उद्भव, कम्प आदि संविद्धर्मों के धीरे-धीरे प्रकट होने से जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है। यहाँ शून्यादि मानो अपनी प्रमेयता छोड़ने लगते हैं। इस प्रकार देहाभिमान के स्पर्शवाली अवस्था तुर्या है, और देहादि के अभिमान के स्पर्श से अछूती दशा तुर्यातीत है।

दोनों प्रकार के–तुर्यातीत और तुर्य–समावेश को क्रमश: पर और अपर सिद्धि कहा गया है। आदिश्लोक में आये 'समस्तसंपत्' का यह अन्वर्थ विनियोग है।[227] परसिद्धि है

पूर्णतात्मक जीवन्मुक्ति और अपरसिद्धि है समावेश के अभ्यास से विभूतियों या परमेश्वर के ऐश्वर्य का क्रमिक उन्मीलन।[228] महाफल कहकर इस समीकरण को अभिनव अनवद्य घोषित कर देते हैं।[229] इस विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि वेद्यता के निमज्जनपूर्वक स्वरूपोन्मेषी प्रत्येक अनुभव अपर सिद्धि या विभूतिरूप है और उसकी एक ही दिशा है : संकुचित व्यक्तित्व देह आदि के किसी एक अंश का, दो अंशों का या सभी का निमज्जन और पर्यन्ततः महाविभूति का लाभ। इस अर्थ में मुक्ति और महाविभूति एक ही है।[230]

मुक्ति और विभूति, मुक्ति और ऐश्वर्य के तादात्म्य की पृष्ठभूमि में तंत्रों का एक प्रसिद्ध वैचारिक समीकरण कार्यरत है। शैव दार्शनिकों ने मोक्ष की अवधारणा भोग और मोक्ष के सामरस्य के रूप में की है।[231] आत्मरूप परमेश्वर के वैभव का उन्मीलन, अपनी स्वातन्त्र्यरूपता की क्रमिक उपलब्धि, ही भोग है। लौकिक उपमान की रक्षा करते हुए अभिनव उत्पल का अनुगमन करते हुए प्रत्यभिज्ञा को मुक्ति और दास्य को लक्ष्मी की संज्ञा देते हैं।[232] इतना ही नहीं, वे स्पष्ट शब्दों में परसिद्धि प्रत्यभिज्ञा को मोक्षपरक और अपरसिद्धि विभूतिलाभ को भोगपरक घोषित करते हैं।[233]

प्रत्यभिज्ञा की अवधारणा के निरूपण में शैव दार्शनिक जिस विचारसरणि का आश्रय लेते हैं, समावेश के प्रतिपादन में ठीक उसी की समानान्तरता दिखायी देती है। महाफल की दास्यरूपता के प्रसंग से समावेश के प्रत्यय का आसूत्रण हुआ था। प्रत्यभिज्ञावादियों का बद्धमूल विश्वास है कि समावेश की प्राप्ति ही सारे ज्ञानात्मक, क्रियात्मक और आध्यात्मिक उद्यम का स्रोत है।[234] सारी उपासना, सारी भक्ति समावेश का ही पल्लवन है। सारी भक्ति-साधना का, विशेष कर दास्य भक्ति का, ठीक वही रूप है जो समावेश का। अर्थात् अपने सीमित अस्तित्व का गुणीकरण और परमेश्वर के स्वरूप की प्रधानता का आपादान।[235] यही भक्ति का प्रह्वीभाव है। कल्पित व्यक्तितत्त्व के निरन्तर प्रगुणीकरण द्वारा चेतना के मलहीन स्वरूप की प्राप्ति ही भगवान् का अनुग्रह है, प्रसाद है। वही वस्तुतः भगवत्ता है और मोक्ष तदाकारता ही है।[236]

अभिनवगुप्त सारे प्रत्यभिज्ञा-निर्णय की सार्थकता पर प्रश्न चिह्न लगाते हैं। यदि आत्मा नामक वस्तु शिवरूप है तो प्रत्यभिज्ञान होने, न होने से उसकी शिवाकारता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अतः आत्मा ईश्वर है इस प्रत्यभिज्ञान में कोई व्यावहारिक, यौक्तिक या प्रयोजनमूलक बाध्यता नहीं है। अपने उत्तर में अभिनवगुप्त अर्थक्रिया को दो प्रकार का मानते हैं–बाह्य और आन्तरिक। बाह्य का सम्बन्ध विषय आदि से है और आन्तरिक का प्रमाता या विषयी से। बीज पहचाना जाए या न पहचाना जाए, कारण सामग्री के होने पर वह अंकुर को अवश्य जन्म देगा। अंकुरण एक प्रकार की बाह्य अर्थक्रिया है, यहाँ एक प्रकार की यान्त्रिकता है, अतः प्रत्यभिज्ञान[237] ऐसे स्थलों पर आवश्यक नहीं है। परन्तु प्रसन्नता या संतोष जैसी आन्तरिक अर्थक्रियाओं के स्थल में प्रत्यभिज्ञान की उपयोगिता को नकारा नहीं जा सकता।[238] आन्तरिक अर्थक्रियाएँ अनिवार्यतः प्रमातृनिष्ठ होती हैं अतः स्वरूपतः आत्म-विमर्शनात्मक होने के कारण प्रमाता के सुख, दुःख, वितृष्णा आदि रूपों

में प्रकट होती हैं। **'सोऽयं'**–यह वह है–जहाँ, इदंता और तत्ता का तादात्म्य प्रधानतया गोचर है और **'सोऽहम्'**–मैं वह हूँ–जहाँ अहंता और सामान्य इदन्ता का तादात्म्य प्रतीयमान है, जैसे स्थल अनिवार्यत: प्रत्यभिज्ञानात्मक हैं। क्योंकि जहाँ पहले में हमें प्रसन्नता की प्रतीति है (यहाँ हमें विषयिभेद से सुख, दु:ख किसी भी भाव की प्रतीति हो सकती है), दूसरे में हमें पूर्ण आनन्द मिलता है। इसका सीधा सा अर्थ है प्रत्यभिज्ञान से उपजने वाली विषयिगत प्रतिक्रियाएँ अन्य ज्ञानों से उत्पन्न प्रतिक्रियाओं से भिन्न हैं। ये प्रतिक्रियाएँ ही प्रत्यभिज्ञा की सार्थकता को प्रमाणित करती हैं। अभिनव एक महत्त्वपूर्ण व्याप्ति यहाँ बनाते हैं–प्रमाता के आत्मविमर्शन या स्वविषयक आस्वादन पर जो अर्थक्रियाएँ निर्भर करती हैं वे बिना प्रत्यभिज्ञान के सम्भव नहीं हैं।[239] अत: **'सोऽहं', 'अहं महेश्वर:'** इन स्थलों पर जहाँ समग्र सत्ता आत्ममयी है, इस प्रकार की आत्म-प्रत्यवमर्शात्मक विश्रान्ति के कारण जीवन्मुक्तिमयी और विभूतिमयी अर्थक्रिया के कारण ईश्वर-प्रत्यभिज्ञान अपरिहार्य है।[240]

प्रमातृविश्रान्ति को आन्तरिक अर्थक्रिया का प्रमाणतत्त्व बताने के पीछे अभिनव का आग्रह यह इंगित करने में रहा है कि प्रत्यभिज्ञान को केवल ज्ञानमीमांसीय चौखटे में रखकर नहीं देखा जा सकता। प्रत्यभिज्ञान केवल वस्तु-बोध ही नहीं देता, वह वस्तु को हृदयंगम कराता है। यह स्मरण कराना अस्थाने न होगा कि प्रत्यभिज्ञा के अवयव 'अभि' का एक अर्थ हृदयङ्गमीभाव भी है।[242] हृदयङ्गम होने का अर्थ है कि बोध का बुद्धि के स्तर से हटकर हृदय के स्तर पर आना। यह तभी सम्भव है जब प्रमाता की चेतना आश्वस्त होती है कि वस्तु-बोध सम्पूर्ण है, कुछ भी छूटा नहीं है। अज्ञान में कुछ अंश छिपा या अदृष्ट रह जाने के कारण हमेशा मन में बेचैनी का भाव बना रहने के कारण पूर्णतासाध्य चित्तविश्रान्ति रूप अर्थक्रिया सम्भव नहीं हो पाती इसलिए 'प्रमातृविश्रान्तिसारा' का अर्थ है 'पूर्णतावभासनसाध्या'।[242] यह प्रत्यभिज्ञा से ही सम्भव है, जिसका कारण उसकी अनुसंधानात्मकता में निहित है। हृदयङ्गमतापूर्वक पूर्णताबोध एक जीवन्त प्रक्रिया है जो एक प्रतिक्रिया-शृंखला को जन्म देती है, जिससे प्रत्यभिज्ञानात्मक अनुभव सम्पन्नतर बनता है। उत्पल ने नायिका द्वारा कान्त के प्रत्यभिज्ञान का जो दृष्टान्त दिया है उसमें अभिनव प्रदर्शित करते हैं, कि दूती के बताने या किसी 'अभिज्ञान' (पहचान/पहचान-चिह्न) से नायिका जैसे ही अपने प्रेमी को पहचानती है, तुरन्त उसके उत्तम गुण बड़ी हार्दिकता से उसे याद आते हैं, मन में अनिर्वचनीय भरापन (पूर्णता) उमगने लगता है और कान्त के साथ सहवास के अन्तरंग क्षणों में न जाने कितनी और विश्रान्तियाँ जन्म लेती हैं। ठीक वैसे ही गुरु के वचन या ज्ञान और क्रिया-शक्ति के अभिज्ञान द्वारा जैसे ही परमेश्वर के गुणोत्कर्ष में मन रमता है, उसी क्षण पूर्णतात्मक जीवन्मुक्ति और समावेश के अभ्यास-रस से पूरे विश्व को अपने अधीन करने वाली विभूति की प्राप्ति हो जाती है।[243] सांख्य के अचेतन परिणामवाद के प्रसंग में अभिनवगुप्त एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण टिप्पणी करते हैं कि सांख्य की प्रकृति में यदि परिणमन-कर्तृता मान भी ली जाए तो भी उसका स्वातन्त्र्य उभयमेलनात्मक अर्थात्

प्रत्यभिज्ञानात्मक रस से शून्य है, इसीलिए सांख्य के कार्यकारणभाव को अभिनव 'शुष्क' कहते हैं।[244] अभिनव की यह टिप्पणी हमें प्रत्यभिज्ञा के एक भिन्न और व्यावर्तक आयाम की ओर ले चलती है और वह है उसकी अविनाभूत आनन्दात्मकता। प्रत्यभिज्ञान मन को आर्द्र बना देता है, यह आर्द्रता है जो मल के निकल जाने से आती है। फलत: यह सरस, आर्द्र, मलरहित चित्त विश्वरूप परमेश्वर के समावेश के लिए उपयुक्त मनोभूमिका प्रस्तुत करता है।[245] इस पीठिका के साथ अभिवगुप्त पर और अपर दोनों सिद्धियों की आनन्दात्मकता को रेखांकित करते हैं। दोनों स्थितियाँ आनन्द के द्विविध उन्मेष हैं। महाकवि प्रसाद की '**लीला का स्पन्दित आह्लाद**' (कामायनी, दर्शनखण्ड) सम्भवत: यही व्यंजित करता है। जीवनमुक्ति तो प्रत्यभिज्ञान मात्र से होने वाली विशुद्ध आनन्द की स्थिति है और विभूति योग निरन्तर परिशीलन से क्रमश: उन्मीलित सहस्रों भोगों की।[246] पहली स्थिति पूर्वदृष्ट या भात के ऊपर पड़े मोहावरण के हटने के साथ-साथ अनिवार्य रूप से होती (नान्तरीयक) है, और दूसरी भात होने पर भी बिना भात जैसी है। वहाँ हमें प्रत्यभिज्ञा निश्चय के दृढीकरण के द्वारा वैसा अभिमान कराती है।[247] प्रत्यभिज्ञा को स्फुटतर बोध कहे जाने का यही अर्थ है।[248] जीवन्मुक्ति का सम्बन्ध दर्शन और साधना से जोड़ा जा सकता है और विभूति या भुक्ति का दर्शनेतर सांस्कृतिक व्यापारों से। कला, काव्य, साहित्य इसी अर्थ में विभिन्न रूपों में अन्तर्व्याप्त अपने स्वरूप का निरन्तर परिशीलन हैं और एतज्जन्य सारे बोध स्फुटतर बोध की ही विभिन्न भंगिमाएँ हैं और ये सारे बोध तत्त्वत: आनन्दात्मक हैं।

काश्मीर के शैव दार्शनिकों का प्रत्यभिज्ञान-चिन्तन ज्ञानविषयक हमारे चिन्तना-प्रकार को मौलिक रूप से परिवर्तित कर देता है। प्रत्यभिज्ञा को आत्मलाभ का एकमात्र उपाय मानने और सारे ज्ञानों को अन्तत: प्रत्यभिज्ञा के साँचे में निगमित करने के पीछे एक दार्शनिक सोच है। मानसिक व्यापार दो प्रकार का हो सकता है–एक, ज्ञानात्मक और दूसरा, प्रत्यभिज्ञानात्मक। पहली प्रक्रिया एक विषय को चुनकर उसका अध्यवसान करने में निहित है। एक का चयन करने का अर्थ है तदितर का तिरस्कार, उपेक्षा या निषेध करना। दूसरी प्रक्रिया, प्रत्यभिज्ञान, इससे भिन्न है। यहाँ कोई चयन या व्यावृत्ति नहीं है। यह पूर्ण स्वीकार की स्थिति है जहाँ पिछले अनुभव का अनुमोदन है और एक जीवित प्रक्रिया के रूप में घटित की पुनरावृत्ति है। अनुभूति का विखण्डन न होकर नैरन्तर्य है। इसी को प्रत्यभिज्ञावादी पारिभाषिक तौर पर अनुसंधान शब्द से व्यक्त करते हैं।

भारत के सारे दार्शनिक सम्प्रदायों द्वारा आश्रित प्रक्रिया प्राय: ज्ञानात्मक है। अत: आत्मोपलब्धि या मोक्ष को सामान्यत: ज्ञान या अनुभूति रूप माना जाता है। फलत: अनुभव के एक विषय (आत्मा) का स्वीकरण या अभ्युपगम होता है और अन्य (अनात्म) का निषेध या तिरस्कार होता है। उदाहरण के तौर पर वेदान्त के '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**' में ब्रह्म की एकता का अभ्युपगम है, पर सर्व की सर्वता का निषेध है। इसके विपरीत, प्रत्यभिज्ञा में सभी पदार्थ शिवतया एक हैं। पर उनकी सर्वता भी सत् है। यही नहीं, यहाँ सर्व

भी सर्वात्मक है। अर्थात् एक एकतया भी सत् है और सर्वतया भी, और इसी प्रकार सर्व सर्वतया भी सत् है और एकतया भी। शिवदृष्टि की प्रसिद्ध घोषणा है '**एवं सर्वपदार्थानां समैव शिवता स्थिता** (1.48-49)।' इस प्रकार यहाँ बाध, निषेध, तिरस्कार, अपोहन सब अप्रासंगिक हो जाते हैं। प्रकृत विश्लेषण हमें एक दूसरी दिशा में ले जाता है। सांख्य, न्याय, वेदान्त आदि विभिन्न सम्प्रदाय केवल एक सीमा तक ही जाते हैं। सांख्य में यह पुरुष का अकेलापन (कैवल्य) है, योग में चित्तवृत्तियों का उपराम (निरोध) है, न्याय में आत्मा का अपने में अवस्थान (स्वस्थता) है, और वेदान्त में अविद्या-निवृत्ति। स्वरूपलाभ की प्रक्रिया मोटे तौर पर प्राय: सभी दर्शनों में एक है–आत्मा और अनात्मा में विवेक करना। कहीं यह विवेक निषेधरूप है और कहीं निषेध जैसा है। आपस में इन दर्शनों में आत्मा या अनात्म के स्वरूप और इन दोनों के मध्य अन्त:क्रिया के स्वरूप को लेकर मतभेद हो सकता है पर एक बात में सब सहमत हैं कि आत्मतत्त्व के अनात्मतत्त्व से भेदनपूर्वक ही मुक्ति प्रतिफलित होती है। यह सारा मनोभौतिक संस्थान और आनुभविक जगत् अनात्मा का प्रतीक है, आत्मा में समवेत है, या अध्यस्त या प्रतिबिम्बित या अन्य प्रकार से तदात्मीकृत है। इसलिए दोनों तत्त्वों का भेदन कहीं निषेधाकार है और कहीं निषेध-जैसा। इस प्रकार मुक्ति अनात्म के निषेध या न्यग्भाव का नाम है।

इसके विपरीत प्रत्यभिज्ञा में स्वरूपबोध दो विरोधी बिन्दुओं – शिव और शक्ति – के समन्वय में है। सारा अनात्मजगत् शक्ति से एक रूप है जो कि चेतना के आत्मनिषेधन व्यापार का प्रतिफलित-रूप है। इसलिए यहाँ स्वरूप-लाभ का अर्थ आत्मा और अनात्म, दो के सामरस्य से है, न कि एक के निषेध से।[249] इसलिए अद्वैत शब्द का अर्थ यहाँ 'द्वैत का निषेध' न होकर 'सामरस्य', सामस्त्य, या 'पूर्णता' से लिया गया है। कूटस्थता और परिणामिता, धर्मिचेतना और धर्मचेतना, द्रव्य और व्यापार की दो धाराओं का चितिकर्तृता और चित्क्रिया[250] के रूप में समन्वय प्रत्यभिज्ञा की पूर्णतावादी प्रवृत्ति का निदर्शन कराता है।

फलत: हमारे सांसारिक अनुभवों का उच्चतर अनुभवभूमियों में उदात्तीकरण सम्भव हो पाता है। काश्मीर शैव दर्शन में इसकी पारिभाषिक संज्ञा विकल्पसंस्कार है।[251] विकल्प-बुद्धि में अनात्म का आत्मतया नैरन्तर्य क्रम में इतना सघन अनुशीलन कि विरोधी अर्थात् आत्मा को अनात्मतया ग्रहण करने वाला विकल्प अंकुरित न होने पाए। उदात्तीकरण की इस प्रक्रिया की परिणति अपनी निर्विकल्प संवित् के उदय में होती है।[252] यहाँ विकल्प-संस्कार एक वास्तविक सम्भावना है, क्योंकि यहाँ विकल्प निर्विकल्प का विरोधी नहीं बल्कि उसी की अभिव्यक्ति है। विकल्प और निर्विकल्प दोनों की समरसता है, अत: अनुभव का प्रत्येक स्तर स्वरूप-प्रत्यभिज्ञान की ओर एक कदम है, जहाँ दोनों ही विरोधी सत् हैं, विहित हैं, और परस्पर समंजस हैं। जहाँ दोनों अहंता और इदंता एक-दूसरे का निषेध नहीं करते बल्कि एक-दूसरे में अपनी परिपूर्णता खोजते हैं।

प्रत्यभिज्ञा इस उपलब्धि की व्याख्या भी है और उसका तर्क भी।[253] दो विरोधी ध्रुवों की एकता प्रत्यभिज्ञा है, क्योंकि उसी के माध्यम से अनुभवजगत् का दृश्यमान भेद तादात्म्य

में पर्यवसित होता है। अतः प्रत्यभिज्ञान अनुवाद या पुनरुक्तिमात्र नहीं रहता– प्रत्यभिज्ञानात्मक बोध से नये अंश का उदय होता है। आनन्दवर्धन के प्रसिद्ध दृष्टान्त के सहारे से कहा जा सकता है कि साल भर देखे जाने वाले वृक्ष जैसे वसन्त में बिल्कुल नये लगते हैं, जैसे हमारे चिर परिचित सारे के सारे अनुभूत विषय रस के स्पर्शमात्र से नये प्रतीत होते हैं, ठीक वैसे ही प्रत्यभिज्ञा हमारे अनुभव में एक नयेपन का आधान करती है।[254] यह अपूर्वता और कुछ न होकर प्रस्तुत में अतिशय का विधान (प्रेडिकेशन) मात्र है। यहाँ अपूर्वता, यह नया अंश, अपनी पुनर्व्याख्या या प्रत्यवमर्शन है जो एक ही विचार-विषय के विविध अवस्था-भेदों के मध्य ऐकात्म्यबोध में प्रतिबिम्बित होता है–**सनातनो नित्यनूतनः**। साम्प्रदायिक शब्दावली में यही स्वरूपबोध या दो विरोधी बिन्दुओं का समरसन है।

तान्त्रिक विचार-सम्पदा के चरम मूल्य के रूप में प्रत्यभिज्ञा तान्त्रिक संस्कृति के मौलिक आयामों का उद्घाटन करती है। उपर्युक्त विवेचन में हमने देखा है कि प्रत्यभिज्ञा के प्रत्यय के द्वारा शिवाद्वयवादी आचार्य समग्र ज्ञानप्रक्रिया को प्रत्यभिज्ञानात्मक सिद्ध करते हैं। उनकी दृष्टि में सारी सृष्टिप्रक्रिया, सारी सत्तामूलक प्रक्रिया, सारी कारणात्मक प्रक्रिया, अर्थबोध की प्रक्रिया,जागतिक व्यवहार की प्रक्रिया प्रत्यभिज्ञानात्मक ठहरती है। इससे हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि तंत्रेतर विचारधारा जहाँ अपनी परमार्थमीमांसा में विवेकमूला है, अर्थात् आत्मा और अनात्म के भेदन पर आश्रित है, प्रत्यभिज्ञा की परमार्थदृष्टि सामरस्यमूला है, जहाँ अहंता और इदन्ता एक-दूसरे से समंजस हैं। तंत्रेतर ज्ञानमीमांसाओं का आधार अध्यवसान या तदितरपरिहारपूर्वक निश्चय है, प्रत्यभिज्ञा-ज्ञानमीमांसा की ज्ञानप्रक्रिया अनुसंधानमूला है जो विरोध और भेद में आन्तिरक अन्विति की खोज करती है। निष्कर्षतः तंत्रेतर समाजदर्शन या जीवनदृष्टि वर्ण, लिङ्ग आदि का परिहार करती हुई व्यावृत्ति या अलगाव को प्रश्रय देती है, तान्त्रिक जीवनदृष्टि सभी का समाहार करती हुई अनुवृत्तिमूलक सिद्ध होती है। कविराज जी के शब्दों में वैदिक संस्कृति का मूल स्वर है संन्यास, त्याग, जब कि तान्त्रिक संस्कृति का है अभ्युपगम, अङ्गीकार। एक अपनी एकलता में खण्डनमयी, वर्जनामयी, निषेधात्मक है दूरी अपनी सकलता में निरवच्छिन्न, मंडनात्मक और सकारात्मक। इन सबकी धुरी है प्रत्यभिज्ञा।

प्रश्न है कि क्या प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का कोई समसामयिक सन्दर्भ भी है? हम इसका उत्तर ढूँढ़ने की चेष्टा करेंगे।

एक अतिक्रामी दर्शन, विशेषतः प्रत्ययवादी दर्शन, का परमार्थ सत् कालातीत होता है जबकि समसामयिकता का सम्बन्ध कालखण्ड से है। आपाततः दोनों में विरोध है। यही बात इतिहास के साथ है। इतिहास सत्य को कालिकता के आवरण में लपेटता है जब कि दर्शन का सत्य निरवच्छिन्न और नित्य है। सन्दर्भ-भेद से यह विरोध अनेक स्थलों पर दिखायी देता है। अपने अत्यन्त निकट रामजन्मभूमि/बावरी मस्जिद के सन्दर्भ में देखें तो, कालजयिनी आस्था जो स्वयं साक्षी है और घटनानिष्ठ साक्ष्य पर झूलती निष्ठा जिसका

सम्बन्ध इतिहास से है, इन दोनों का विरोध राष्ट्रीय जीवन में कटुता बो रहा है। दंभ की नींव पर चलते समय-सापेक्ष स्वार्थ के प्रति तर्क की दासता और देशकालोल्लंघी मानवीय गरिमा के बीच का विरोध ईराक के बहाने पूरी मानवता को युद्ध में झोंक रहा है। अपने मूल से विच्छिन्न, अपने ही रस से वंचित, अपने में विखण्डित, आत्मविरोध से ग्रस्त कभी हम सभ्यताओं के संघर्ष को आप्तवचन के रूप में श्रद्धापूर्वक मान्यता देते हैं ओर कभी अपने ही देश में, समकालीन कालखण्ड में, पूरी जाति को काश्मीरी पण्डितों की भाँति विस्थापित और प्रवासी हो जाने देते हैं और इस प्रक्रिया में अभिनवगुप्त जैसे महाप्राण मनीषी और उनसे जुड़ी, शताब्दियों से जुगोई, सारी वैचारिक धरोहर को ही उस भू-भाग से निष्कासित कर देते हैं जहाँ से उसने हमारी सांस्कृतिक अस्मिता और बौद्धिक जिजीविषा को आलोड़ित किया था और हम संवेदना-शून्य होकर आत्मघाती क्लीव सिद्धान्तों और भरोसों की फसल काटते चले जाते हैं। प्रत्यभिज्ञा और स्पन्द से प्रेरित **कामायनी** के कवि प्रसाद ने सम्भवत: यही सब देखकर लिखा था–

जीवन सारा बन जाए युद्ध।
उस रक्त अग्नि की वर्षा में बह जाए सभी जो भाव शुद्ध।
अपनी शंकाओं से व्याकुल तुम अपने ही होकर विरुद्ध।
अपने को आवृत्त किये रहो, दिखलाओ निज कृत्रिम स्वरूप
हो वर्तमान से वंचित तुम अपने भविष्य में रहो रुद्ध।
सारा प्रपंच ही हो अशुद्ध। (इडा, पृ. 166)

मुझे लगता है कि प्रत्यभिज्ञा आज के सन्दर्भ में भी एक विचारणीय प्रतिमानक है। चेतना, स्वातन्त्र्य और मूल्य–ये तीनों किसी भी सांस्कृतिक चिन्तन की केन्द्रीय धारणाएँ हैं। स्वतन्त्र चेतना के अतिरिक्त मूल्य का कोई उद्‌गम नहीं है। प्रत्यभिज्ञा में सत् की भावना स्वतन्त्र, पूर्ण और समरस सत् के रूप में की गई है। इसका अर्थ सत् को एक जटिल, आत्मनिष्ठ क्रिया से स्पन्दित, और विरोधियों के मध्य स्वतन्त्र आन्तरिक व्यवस्था से समरस पूर्ण के रूप में प्रस्तुत करके प्रत्यभिज्ञा हमारे प्रश्न का उत्तर देने की चेष्टा करती है। प्रत्यभिज्ञा अनुभव की अभ्युपगमपूर्वक व्याख्या के द्वारा, चेतना के रूप में प्रदत्त सत् के विमर्शन द्वारा, वीक्षा की अन्वीक्षा द्वारा ज्ञान में, क्रिया में, अस्तित्व में पूर्णता की खोज है। सामरस्य या समन्वय इस अर्थ में मूल्यानुसंधान की प्रक्रिया है कि सत् स्वयं अपने ही विकास और संकोच, अपने ही विमर्श से अपना विषयन करता हुआ, अपनी शक्तियों का आविष्करण करते हुए अपने को निरन्तर पहचानने की चेष्टा कर रहा है। कालातीत तत्त्व की यह यात्रा ही इतिहास है, इस प्रकार हर खण्ड सत्य इतिहासोत्तीर्ण तत्त्व की इतिहासान्तर्गत अभिव्यक्ति है। इतिहास या भूगोल के सत्य को जब निरवधि, अखण्ड, कालजयी सत् की अभिव्यक्ति मानते हैं तो कालिक से अकालिक में निरायास प्रवेश कर जाते हैं। यही मूल्यानुसंधान है। यहीं यदि चूक जाते हैं–खण्ड और सापेक्ष को अतिक्रामी सत् के रूप में ग्रहण करते हैं, तो तर्क और अनुभव का, इतिहास और दर्शन का, कालिक और कालोत्तर का विरोध प्रारम्भ हो जाता है। इक़बाल का बड़ा सारगर्भित शेर है–

तू है मुहीते-बेकरां,[255] मैं हूँ ज़रा सी आबे-जू[256]
या मुझे हमकिनार[257] कर, या मुझे बेकिनार[258] कर

आध्यात्मिक सत्य समाज या आचरण के सत्य का विरोधी नहीं है, दोनों समरस हैं। सोमानन्द कहते हैं कुत्सित या गर्हित कुछ भी नहीं है। कुत्सा या गर्हणा हमारी दृष्टि में है। समग्र सृष्टि में व्याप्त अखण्ड सत्य से तोड़कर देखने पर ही सुन्दर एकबारगी कुत्सित में बदल जाता है।[259] इसी प्रकार अभिनवगुप्त के अनुसार दुर्जनता, दूसरे का अपकार इसी खण्डित दृष्टि की अनिवार्य परिणतियाँ हैं। अखण्ड सत्य के साथ एकतानता का बोध सज्जनता है–सारी सृष्टि उस सत् की अभिव्यक्ति होने के नाते उसके लिए मूल्यवती है जिसकी दृष्टि अपूर्ण है वही सब ओर से लूटकर अपने को भरना चाहता है और इस प्रक्रिया में सामाजिक अपकारों की अंधी दौड़ शुरू हो जाती है।[260] अभिनवगुप्त का अद्वय-बोध और उससे वासित उनकी मानवीय संवेदना से कोई क्षेत्र टूटा नहीं है। सामाजिक न्याय, मानवीय अधिकार, नारीमुक्ति, दलित चेतना इन सबके सन्दर्भों को वह इसी खण्ड दृष्टि और आत्मविस्मृति से ही उपजा पाते हैं1 गीता के बहु-चर्चित श्लोक–

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥ (9.33)

की व्याख्या की तीक्ष्णता आज के बड़े से बड़े प्रतिबद्ध सक्रियतावादी को लज्जित करने के लिए पर्याप्त है–

''केचिदाचक्षते - 'द्विजराजन्यप्रशंसापरमेतद्वाक्यं न तु स्त्र्यादिष्वपवर्ग-प्राप्तितात्पर्येण' इति। ते हि भगवतः सर्वनुग्राहिकां शक्तिं मितविषयतया खण्डयन्तः, तथा परमेश्वरस्य परमकृपालुत्वमसहमानाः ... ..अद्वैतभगवत्तत्त्वे भेदलिङ्गं बलादेव आनयन्तः ... अन्तर्गर्भीकृतजात्यादिमहाग्रहाविष्टान्तःकरणाः मात्सर्यावहित्थलज्जाजिह्मीकृतावाङ्मुख-दृष्टयः समग्रस्य जनस्य असत्प्रलापिनः इति हास्यरसविषयभावम् आत्मनि आरोपयन्ति।'' (गीतार्थ-संग्रह, पृ. 108)

प्रत्यभिज्ञा दार्शनिकों के द्वारा दिये गए इन सूत्रों को परिनिष्ठित विचार के रूप में विकसित किया जा सकता है। उत्पल के **'मार्गे नवो'** की तार्किक परिणति के रूप में नये जीवन-दर्शन, जिसकी जड़ें परम्परा की सनातनता में गहरे जाती हैं, की सम्भावना का दोहन किया जा सकता है। प्रत्यभिज्ञा-दर्शन आनन्द का दर्शन है, जीवन की पार्यन्तिक मूल्यवत्ता का दर्शन है और मनुष्य की अपनी सम्भावनाओं और संवेदनाओं में पूरी आस्था का दर्शन है, यह जीवन का उत्सव और अस्तित्व का अभिषेक है।

सन्दर्भ

179. अनुसंधानम् एकविषयभावोपपन्नस्मृतिताप्राप्तिरूपम्।–**वही**, 1, पृ. 136
180. एवमन्योन्यभिन्नानामपरस्परवेदिनाम्। ज्ञानानामनुसन्धानजन्मा नश्येज्जनस्थितिः॥ –**ई.प्र.का.** 1.4.6

181. प्रथममपि पूर्वापररूपानुसन्धानेन स्मरणानुप्राणितेन विना न घटेत, प्रमातरि विश्रान्त्यभावात् अप्रत्यक्षत्वप्रसंगात्।–**ई.प्र.वि.**, 1, पृ. 137
182. स्मरणानुप्राणितेन पूर्वकालविशेषितात्मरूपविषयानुभवनेन सह एकविषयापरकालविशेषित-स्वात्मरूपविषय-स्मृतिदत्तसत्ताकेन।–भा., 1, पृ. 137
183. सर्व चानुसंधानं स्मरणानुसन्धानप्राणं विषयमेलनेन बिना न सम्भवत्येव।–**ई.प्र.वि.वि.**, पृ. 280
184. पूर्वदृष्टैव सविमर्शा सती इदानींतनविमर्शभूमिपतिता स इति विमर्श उच्यते।–**वही**, 2, पृ. 30
185. ततश्च स्मरणे स्वात्मांशे सविमर्शः कालानवच्छिन्न एव। अर्थांशे तु प्रकाशः प्राच्य एव। तन्नान्तरीयकविमर्शसहितः पुनर्विमर्शस्तु इदानीन्तनः।–**वही**, पृ. 32; देखिए **वृत्ति**, पृ. 106
186. स हि पूर्वानुभूतार्थोपलब्धा परतोऽपि सन्। विमृशन् स इति स्वैरी स्मरतीत्यपदिश्यते॥–**ई.प्र.का.** 1.4.1
187. स तादृगेव तमसेव आच्छाद्य अवस्थापितः संस्कारशब्दवाच्यः, तस्य तमाच्छादकम् अपहस्तयति।–**ई.प्र.वि.**, 1, पृ. 152
188. इति तत्परामर्शभित्तिप्राधान्येन पूर्वकालपरामर्शः इति विरुद्धपूर्वापरपरामर्शस्वभाव एव स इति परामर्श उच्यते।–**वही**, पृ. 153
189. एतदेव हि तस्य स्मृर्तत्वम्।–**वही**, पृ. 153-54
190. 'एष सः' इति आच्छादितस्येव प्रमातृतत्त्वस्य स्फुटावभासनं कृतम्, इदम् (एषः) इति विस्मयगर्भया अनया उक्त्या प्रत्यभिज्ञा एव सूचिता।–**ई.प्र.वि.**, 1, पृ. 165
191. अस्मद्दर्शने तु भिन्नकाला अपि संविदः तत्कालात्यागेनेव एकतावभासनेन स्वतन्त्रः प्रमाता यावदन्तमुर्खतया तावत्यंशे विमृशति तावत्प्रकाशस्य तात्कालिककबहिर्भावावभासो विमर्शस्य इदानीन्तनार्न्मुखा स्थितिरिति।–**वही**, पृ. 164
192. यहाँ आकर अनुभव और प्रत्यभिज्ञा भी अपना भेद खो बैठते हैं। अनुभव प्रत्यभिज्ञानात्मक होता है और प्रत्यभिज्ञान अनुभवात्मक, क्योंकि दोनों ही में प्रकाश का विमर्श से अभेदानुसंधान होता है। अनुभव का अभिप्राय, अभिनवगुप्त के अनुसार, ऐसे अभेदविमर्श से है जिसका जीवन प्रकाश है : **तेन निर्विकल्पकेन अभेदविमर्शेन प्रकाशमात्रजीवितेन अनुभवशब्दवाच्येन**।–ई.प्र.वि.वि., 1, पृ. 79। यहाँ पर भी हम प्रकाश विमर्श का समीकरण देखते हैं।
193. तस्याद्वैतपदस्य विस्मृतनिधेः प्राप्तिः प्रकाशोदयः।–**अनुत्तराष्टिका** 4, **अभिनवगुप्त.**, परिशिष्ट 'सी', पृ. 43
194. अतिशयनिरन्तरावहितचेतसतु दृष्टार्थप्रत्यक्षीकार एव।–**वृत्ति**, पृ. 15
195. आगमिकाःस्मरणमेव मन्त्रादिप्राणितं मन्यन्ते। तथा च 'ध्यानादिभावं स्मृतिरेव लब्ध्वा चिन्तामणिस्तद्विभवं व्यनक्ति। '–**ई.प्र.वि.**, 1, पृ. 154
196. तस्यापि प्रयोजनं समस्तसंपल्लक्षणपारमैश्वर्यरूपैकप्रथनम्।–**ई.प्र.वि.**, 1, पृ. 41-42
197. प्रत्यभिज्ञात्मकं मोक्षतत्त्वमिति विमर्शस्य तात्पर्यम्।–**ई.प्र.वि.**वि., 3, पृ. 355

198. ई.प्र.वि., 1, पृ. 45-46
199. एवमधिकारचतुष्टयोक्तं यद्वस्तु तत्फलितमाह–एवमात्मानमेतस्य सम्यज्ञानक्रिये तथा। जानन्यथेप्सितान्पश्यञ्जानाति च करोति च॥–(**ई.प्र.का.** 4.1.15) : **ई.प्र.वि.**, 2, पृ. 308
200. इत्येवंविमर्शे दृढीभूते विकल्पा अपि 'महाविमर्शपतिता' अविकल्पीभवन्ति। –**ई.प्र.वि.वि.**, 3, पृ. 393
201. प्रत्यभिज्ञापरपर्यायस्य विमर्शस्य।–**महार्थमञ्जरीपरिमल**, पृ. 7
202. The soteriological reintegration-clarification of self-recognition is cast by the thinkers in a manner which may be described as teleological ... cosmogony and teleology are the same.–**Argument.**, pp. 148-150
203. इदमित्यस्य विच्छिन्नविमर्शस्य कृतार्थता। या स्वस्वरूपे विश्रान्तिर्विमर्शः सोऽहमित्ययम्॥–अ.प्र.सि. 15
204. एतदुक्तं भवति–परामर्शो नाम विश्रान्तिस्थानम् तच्च पार्यन्तिकमेव पारमार्थिकम्। ... अनेन नीलादेः अपि इदं नीलम् इति मध्यपरामर्शेऽपि मूलपरामर्शे अहमित्येव विश्रान्तेःआत्ममयत्वम् उपपादितमेव।–**ई.प्र.वि.**, 1, पृ. 278-79
205. तस्य जनस्य ईश्वरविषये प्रत्यभिज्ञा तस्येश्वरस्य च जनविषये प्रत्यभिज्ञा।–भा. 1, पृ. 43
206. तस्य प्रभोरसौ सम्बन्धः प्रत्यभिज्ञापयितृप्रत्यभिज्ञाप्यलक्षणः।–**ई.प्र.वि.वि.**, 1, पृ. 29-30
207. महाफलम् समस्तसंपत्समवाप्तिरूपफलयुक्तदास्यासादनरूपं श्रेष्ठफलम्।–**भा.**, 1, पृ. 30
208. तस्य दास्यमित्यनेन तत्प्रत्यभिज्ञोपपादनस्य महापुलत्वमासूत्रयति ... इत्यनेन परमेश्वररूपस्वातन्त्र्यपात्रता उक्ता। –**ई.प्र.वि.**, 1, पृ. 29
209. महाव्याप्तिभावनेयमेव तात्पर्यार्थः।–**ई.प्र.वि.वि.**, 1, पृ. 23
210. सततसमावेशप्राबल्यं विद्यालक्षणं भक्तिः तया। अनन्तफलार्थित्वेन मोक्षलक्षणो य आस्वादः परिपूर्णो विश्वरूपतामयो दृक्क्रियात्मा विमर्शः, स एव प्रकृतो यत्र।–**वही**, पृ. 24-25
211. देखिए मेरा लेख **Gopinath Kaviraj on Kashmir Saivism,** पृ. 40-44
212. शिवाग्रयोगिन् ने अपनी **शैव परिभाषा** में समावेश को कापालिकों की मुक्ति की विशेषता माना है (पृ. 156-57)। ब्रजवल्लभ द्विवेदी ने अपने **अष्टप्रकरण** की भूमिका (पृ.41-42) में इस मत को सानुमोदन उद्धृत किया है। आधुनिक विद्वानों की मान्यता है कि समावेश की धारणा कापालिकों से काश्मीर शैव अद्वैत परम्परा में आई। देखिए, "Purity and Power among the Brahmans of Kashmir, ए. सैण्डर्सन, **The Category of Person**, सं. एम. कैरिथर्स एवं अन्य, कैम्ब्रिज, 1985, पृ. 290, टिप्पणी 90; सिद्धान्त शैवों में भी इस धारणा का उल्लेख मिलता है। देखिए **वृत्ति**, भूमिका, पृ. 33, टिप्पणी 49। जहां तक प्रत्यभिज्ञा आचार्यों का प्रश्न है वे इस धारणा का प्रभाव स्रोत **गीता** को स्वीकार करते हैं।" देखिए **ई.प्र.वि.**, 2, पृ. 258;

ई.प्र.वि.वि., 3, पृ. 328 जहाँ अभिनवगुप्त **गीता** 12/2 इत्यादि को उद्धृत करते हैं। अपने आप में यह स्वतन्त्र विचार का विषय है।

213. मालिनीविजयोत्तर तंत्र 2.21-23

214. स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्या बोधता। द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः॥ –**ई.प्र.का.** 3.2.4

215. मुख्यत्वं कर्तृतायाश्च बोधस्य च चिदात्मनः। शून्यादौ तद्गुणे ज्ञानं तत्समावेशलक्षणम्॥–**वही** 3.2.12

216. सैण्डर्सन, हारा, टोरेला आदि पाश्चात्य विद्वान समावेश के ये दो अर्थ **विश्** को सकर्मक और अकर्मक मानकर करते हैं। दे. **वृत्ति,** पृ. 32. परन्तु इसके पक्ष में धातुपाठ इत्यादि का प्रामाण्य नहीं मिलता।

217. तदत्र विदधत्पदं भुवनकर्तृतामात्मनो, विभाव्य शिवतामयीमनिशमाविशन् सिद्धयति।–**ई.प्र.का.** 4.1.15

218. अस्मद्रूपसमाविष्टः स्वात्मनात्मनिवारणे। शिवः करोतु निजया नमः शक्त्या ततात्मने॥–**शि.दृ.** 1.1

219. तस्मात्समग्राकारेषु सर्वासु प्रतिपत्तिषु। विज्ञेयं शिवरूपत्वं स्वशक्त्यावेशनात्मकम्॥–**वही** 3.17

220. तेषु सर्वेष्वेव शक्तिमद्भगवच्छिवरूपत्वं स्थितं ज्ञेयं पूर्वोक्तसर्वनिजशक्तिसामरस्यमयम् उपदेशगम्यम्।–**शि.दृ.वृ.**, पृ. 89

221. सेयं द्वय्यपि जीवन्मुक्तावस्था समावेश इत्युक्ता शास्त्रे।–**ई.प्र.वि.**, 2, पृ. 258; सा इयं द्वयी अपि दशा समावेशः।–**ई.प्र.वि.**वि., 3, पृ. 328

222. देहपाते तु एकघना एव शिवतेति तदा समावेशादिव्यवहारो न कश्चिदिति सूत्रस्य पिण्डार्थः।–**ई.प्र.वि.**वि., 3, पृ. 328; देहपाते तु परमेश्वर एवैकरसः इति कः कुत्र कथं समाविशेत्।–**ई.प्र.वि.**, 2, पृ. 258

223. समावेशलक्षणं सत्यस्वरूपे सम्यगासमन्तात् प्रदेशलक्षणं ज्ञानं यल्लाभेन ज्ञानी, यदभ्यासेन च देहप्राणादावनन्तसंविद्धर्मात्मकविभवसमासादनात् योगी भवति।–**ई.प्र.वि.**वि.,3 पृ. 327

224. इति अव्यतिरेकतुर्यातीतसमता एव।–**वही**, पृ. 328

225. 'विशेषदर्शनेषु' इति शाक्ताद्वैतप्रधानेषु, विशेषः शक्तिलक्षण आत्मनो दर्श्यते साक्षात्कारं नीयते येषु। ... शुद्धचैतन्यमिति सामान्यदर्शनेषु सर्वोत्तीर्णैकतद्रूपवेदकेषु दर्शितेति सूचयति।–**वही**, पृ. 331

226. अभ्यासात्तस्य संविद्धर्माः शक्तिविशेषाः सम्यगाविशन्तो विभूतीरुत्थापयन्ति, अनभ्यासे तु तत्क्षणावेश एव आनन्दोद्भव-कम्पनिद्राव्याप्तिरूपघूर्ण्याविर्भावनक्रमेण जीवन्मुक्ततालाभः। –**ई.प्र.वि.**वि., 3, पृ. 330

227. समस्त = पर+अपर, संपत् = संपत्ति = सिद्धि

228. तदा तत्क्षणमेव पूर्णतात्मिका जीवन्मुक्तिः, समावेशाभ्यासरसे तु विभूतिलाभः–इति तस्य प्रत्यभिज्ञैव परापरसिद्धिप्रदायिनी भवति।–**ई.प्र.वि.**, 2, पृ. 315
229. जीवन्मुक्तिविभूत्यात्मकपरापरसिद्धिरूपमहाफलप्रदम्।–**भा.** 2, पृ.315
230. तां विभाव्य यद्यनिशमाविशति शरीरप्राणबुद्धिशून्येभ्योऽन्यतम इयं सर्व वा तत्रैव निमज्जयति, अनवरतं तत्तां तां विभूतिं महाविभूतिपर्यन्तां लभते।–**ई.प्र.वि.**, 2, पृ. 311
231. एतदेव हास्य दर्शनान्तरेभ्यो वैशिष्ट्यं यद् भोगमोक्षद्वितयानुभूतिसामरस्यं नाम।–**म.मं.प.**, पृ. 13; पूज्य कविराज जी इसी संदर्भ में **प्रबोधपंचदशिका** से अभिनवगुप्त की प्रसिद्ध पंक्तियों को उद्धृत करते हैं–**यस्याः भोक्त्र्याः स्वतन्त्राया भोग्यैकीकार एष यः। स एव भोगः सा मुक्तिः स एव परमं पदम्**॥–(भा.सं.सा., पृ. 253, पाद टिप्पणी 1)
232. ऐश्वर्यमयी महेश्वरसमावेशरूपा या प्रकृष्टा भक्तिः ... सा लक्ष्मीशब्देन संपत्पदेन च समस्तेत्यस्य दास्यविशेषणतासूचनेन निर्दिष्टा।–**ई.प्र.वि.**वि., 1, पृ. 28; देखिए, ई.प्र.का. 1.1.1 पर वृत्तिः **लब्धात्यन्तदुर्लभतद्दास्यलक्ष्मीर् अहमेकाकिसंपदा** -पृ. 1
233. प्रत्यभिज्ञानमात्रादानन्दलाभः, परिशीलनात् तु संभोगसहस्रप्राप्तिरिति तुल्यमुभयत्र। –**ई.प्र.वि.**वि., 3, पृ. 403
234. सम्यगावेशनमेव तत्र तत्र प्रधानम्, तत्सिद्धये तूपदेशान्तराणि। ... समावेशपल्लवा एव च प्रसिद्धदेहादिप्रमातृभागप्रहीभावभावनानुप्राणिताः परमेश्वरस्तुतिप्रणामपूजाध्यानसमाधि-प्रभृतयः। **–वही**, पृ. 258
235. तेषां हि प्रहीभावः स्वात्मगुणीकरणं परमेश्वररूपप्रधानतापादनं तत्त्वम्। –**ई.प्र.वि.वि.**, 3, पृ. 328
236. सर्वथा नैर्मल्यात्मा प्रसादो भगवद्रूपता, तादात्म्यं मोक्ष एव।–वही, पृ. 25-26
237. प्रत्यभिज्ञा दार्शनिक सूक्ष्म विवेचना के समय बाह्य अर्थक्रिया जैसे स्थलों पर भी चैतन्य का अभिनिवेश मानते हुए प्रत्यभिज्ञा को वहाँ भी आवश्यक मानते हैं। पर संप्रति हमारे लिए उस विवेचन में जाना विषयान्तर होगा।
238. तत्क आत्मप्रत्यभिज्ञाने निर्बन्धः? उच्यते द्विविधार्थक्रियास्ति, बाह्या चाङ्कुरादिका, प्रमातृविश्रान्तिचमत्कारसारा च प्रीत्यादिरूपा। तत्राद्या सत्यं प्रत्यभिज्ञानं नापेक्षते, द्वितीया तु तदपेक्षते एव।–**ई.प्र.वि.**, 2, पृ. 312
239. प्रमातृविश्रान्तिसारार्थक्रिया प्रत्यभिज्ञानेन बिना न दृष्टा।–**वही**, पृ. 313
240. इह च 'अहं महेश्वरः' इत्येवंभूतचमत्कारसारा परापरसिद्धिलक्षणा जीवन्मुक्तिविभूतियोग-मय्यर्थक्रिया इति ईश्वरप्रत्यभिज्ञानमत्रावश्यापेक्षणीयम्।–**वही**
241. ज्ञातस्यापि मोहवशादज्ञातस्य इव आभिमुख्येन हृदयङ्गमीभावेन ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम्। –**ई.प्र.वि.वि.**, 1, पृ. 31
242. अप्रकाशनशाद् अनुपलक्षिते सर्वथा हृदयङ्गमीभावमप्राप्ते अतएव पूर्णतावभासनसाध्याम् अर्थक्रियाम् अकुर्वति, तत्पूर्णतावभासनात्मकाभिमानविशेषसिद्धये प्रत्यभिज्ञा ...। –**ई.प्र.वि.**, 1, पृ. 58
243. ई.प्र.वि., 2, पृ. 314

244. शुष्कः कर्तृतात्मस्वातन्त्र्योभयमेलनात्मकरसशून्यः। – **वही**, 3, पृ. 234
245. ईदृशेन य एकाकिसंपदा लज्लते, तत एव आर्द्राशयः सरसविमलहृदयः, अत एव विश्वरूपपरमेश्वरसमावेशोचितहृदयस्तेन।–**ई.प्र.वि.वि.**, 1, पृ. 29
246. प्रत्यभिज्ञानमात्रादानन्दलाभः, परिशीलनात् तु संभोगसहस्रप्राप्तिरिति तुल्यमुभयत्र। –**ई.प्र.वि.वि.**, पृ. 403
247. वस्तुनि अर्थक्रियालाभे ... पूर्वदृष्टेऽपि मोहात्पूर्वमविज्ञाते इति भावः। यद्वा इति निर्भातेऽपि अनिर्भातकल्पत्वं, ततो दृढनिश्चये तथाभिमान इति उभयत्रापि तुल्यमिति यावत्।–**वही**
248. तथाहि स्फुटतरभासमाननीलसुखादिप्रमान्वेषणद्वारेणैव पारमार्थिकप्रमातृलाभ इह उपदिश्यते।–**वही**, 1, पृ. 31
249. यदेकतरनिर्याणे कार्यं जातु न जायेते। तस्मात् सर्वपदार्थानां सामरस्यमवस्थितम्॥–**शि. दृ.** 1.23
250. आत्मात एव चैतन्यं चित्क्रियाचितिकर्तृता-तात्पर्येणोदितस्तेन जडात्स हि विलक्षणः॥ –**ई.प्र.का.** 1.5.12
251. अनन्तराह्निकोक्तेऽस्मिन् स्वभावे पारमेश्वरे। प्रविविक्षुर्विकल्पस्य कुर्यात्संस्कारमञ्जसा॥ –**तं.** 3.2
252. ततः स्फुटतमोदारताद्रूप्यपरिबृंहिता। संविदभ्येति विमलामविकल्पस्वरूपताम्॥–**वही**, 3.6
253. काश्मीर शैवदर्शन में, विशेषतः क्रमदर्शन में इसे 'सत्तर्क' की अवधारणा द्वारा शब्दशः अभिव्यक्ति दी गयी है। सत्तर्क शुद्धविद्यारूप होने के कारण प्रत्यभिज्ञानात्मक है और द्वैत-निर्मूलन पूर्वक समरस चेतना का आपादक है–**द्वैतशङ्काश्च तर्केण तर्क्यन्त इति वर्णितम्। शुद्धविद्यात्मकं सर्वमेवेदमहमित्यलम्॥**–तं. 4.105/113
254. दृष्टपूर्वा ह्यपि अर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात्। सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इति द्रुमाः॥ –ध्व. लो. प्रस्तुतातिशर्याविधानमन्तरेण नहि किंचिदपूर्वमस्ति।–ध्व.लो.लो.
255. अथाह सागर
256. छोटी सी नदी
257. अपने से मिला ले
258. किनारों को मिटा दे
259. अभेदापरामर्शनमेव भ्रान्तिरूपं कुत्सितम्, तच्च न किंचित्, अख्यातिमात्ररूपत्वात्। –**शि.दृ.वृ.** 12 (शि.दृ. 1.11-12)
260. ईश्वरदास्यासादनादेव पूर्णतात्मकः सज्जनभावः। अपूर्ण एवं हि स्वात्मानं सर्वतः पूरयिष्यामि इति परम् अपकरोति, नोपकरोति इति वा, ततो दुर्जनः।–**ई.प्र.वि.**वि., 1, पृ. 27

❑

पुस्तक-समीक्षा

काश्मीर शिवाद्वयवाद की मूल अवधारणाएँ

लेखक नवजीवन रस्तोगी, मुंशीराम मनोहर लाल पब्लिशर्स प्रा.लि., नयी दिल्ली, प्र.सं. 2002, मूल्य 450/-

चौदह अध्यायों में विभाजित यह समीक्ष्य ग्रन्थ काश्मीर शिवाद्वयवाद की अनुसन्धित्सा को मूलानुगत रूप में एक नई दृष्टि प्रदान करता है। यह केवल विचार्य प्रत्ययों की मूलभूत अवधारणाओं की जिज्ञासा से प्रेरित होकर ही नहीं बल्कि विचारों की सूक्ष्मेक्षिका की दृष्टि से सम्बद्ध प्रत्ययों के समायोजन और अन्विति की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण और संग्राह्य है। जिन प्रत्ययों की अवधारणात्मक विकास-यात्रा दिखाते हुए काश्मीर शैव सिद्धान्तों की आधार पीठिका प्रस्तुत करना इस ग्रन्थ में ग्रन्थकार का लक्ष्य रहा, उसे ग्रन्थकार ने 'आधारपीठिका' नामक प्रथम अध्याय में ही प्रस्तावित किया है। द्वितीय से लेकर चतुर्दश अध्याय तक क्रमशः "प्रकाश - विमर्श - स्पन्द - वाक् - स्वातन्त्र्य - शक्ति - पूर्णता- सम्बन्ध- भेद - प्रत्यभिज्ञा - भक्ति - योग और उपायचतुष्टय भेद से विषयों का विभाजन तथा अनुशीलन किया गया है।" केवल विषयानुक्रमणिका मात्र का दर्शन करने से, इन विषयों के अन्तःसम्बन्ध तथा पौर्वापर्यव्यवस्थापन में कोई यौक्तिकता है अथवा नहीं–यह समझ में नहीं आता। काश्मीर शैवागम से अनभिज्ञ पाठक के मन में स्वतः यह प्रश्न उठता है कि–क्या जिज्ञासा का उपशमन तब तक नहीं हो सकता जब तक सावहित भाव से कोई भी पाठक **प्राक्कथन** का अवलोकन नहीं कर ले? ग्रन्थकार प्राक्कथन में इन विषयों का शैवागम की कुंजिका-प्रत्ययों के रूप में वर्णन करते हैं। आचार्य रस्तोगी का मानना है कि यद्यपि 'मोक्ष', 'अज्ञान', 'आभास', 'छत्तीस तत्त्व' आदि प्रत्यय शैवागम की विचार-परम्परा में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, तथापि वे प्रत्यय 'केन्द्रीय' नहीं हैं, या अन्य उच्चतर केन्द्रीय प्रत्ययों के अंग हैं, अतः उन प्रत्ययों को यहाँ विचारार्थ नहीं लिया गया है। काश्मीर शिवाद्वयवाद की दृष्टि से 'पूर्णता' का प्रत्यय सबसे मूलभूत केन्द्रीय और बीज प्रत्यय के रूप में उभरता है–क्योंकि इस सम्प्रदाय में अभिमत 'अद्वय' की यही अवधारणा है। उस अद्वय तत्त्व की अनुभूति अथवा प्रत्यभिज्ञान के लिए जिन मूलभूत प्रत्ययों का ग्रन्थकार ग्रहण करते हैं वे प्रत्यय वस्तुतः द्विधा विभाज्य हैं–साध्य प्रत्यय व साधन प्रत्यय। साध्य प्रत्यय स्वयं बीज प्रत्यय और घटक प्रत्यय भेद से द्विविध हैं, जैसेकि पूर्णता रूपी बीज प्रत्यय के घटक प्रत्यय हैं 'प्रकाश', 'विमर्श', 'स्पन्द', 'वाक्', 'स्वातन्त्र्य', 'शक्ति', 'सम्बन्ध' और 'भेद'; साधन प्रत्यय हैं 'प्रत्यभिज्ञा', 'भक्ति', 'योग' और 'उपायचतुष्टय'।